

भक्ति—आन्दोलन का मानवीय पक्ष

डॉ. आर.पी. वर्मा,

असि. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
इन्दिरा गॉंधी राजकीय महिलामहाविद्यालय,
रायबरेली, उ.प्र.

मध्यकालीन भक्ति—आन्दोलन का भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। प्राचीन हिन्दू—दार्शनिकों ने परम पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति के तीन मार्ग निश्चित किये थे—ज्ञान, कर्म और भक्ति। उपनिषदों का मार्ग तत्त्वतः ज्ञान का मार्ग है। आगे चलकर जगद्गुरु शंकर ने उसे अधिक लोकप्रिय बनाया। मीमांसकों ने कर्मकाण्ड पर सबसे अधिक बल दिया। किन्तु ये दोनों ही मार्ग सर्व—सामान्य को व्यापक रूप से अपनी ओर आकृष्ट न कर सके। सामान्य जन के लिए शुद्ध ज्ञान के द्वारा परम सत्य का साक्षात् कर लेना सम्भव नहीं है। इसको तो परम योगी ही कर सकते हैं। वैदिक कर्मकाण्ड व्ययसाध्य होने के साथ—साथ इतना जटिल था कि सामान्य जन के शक्ति और साधनों के परे था। इसलिए पिछले दो हजार वर्षों में बहुसंख्यक हिन्दू जनता किसी न किसी रूप में भक्ति मार्ग का ही अनुसरण करती आई है। यह मार्ग इतना सरल और आकर्षक सिद्ध हुआ कि अनीश्वरवादी जैनों और बौद्धों को भी अन्ततोगत्वा उसी की शरण में जाना पड़ा।

भक्ति—मार्ग के बीज उपनिषदों में विद्यमान है। श्री मद्भगवद्गीता में उसका विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। भगवान् कृष्ण ने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन को तत्त्व—ज्ञान का ही रहस्य खोलकर रखा और फिर उन्होंने उसे निष्काम कर्म का मार्ग दिखलाया। किन्तु उनके उपदेश की परिणति भक्ति में ही हुई। अन्त में जब जगद्गुरु कृष्ण ने देखा कि उनका प्रिय शिष्य ज्ञान और

कर्म में किसी भी मार्ग की हृदयंगम नहीं कर पा रहा है तो उन्हें कहना पड़ा, सर्वाधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज, अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मो सध्यामि परन्तप। 'शिष्य की भी बात तुरन्त समझ में आ गई और वह बिना हिचकिचाहट के बोल पड़ा : 'करिष्ये वचनम तव।'

कृष्ण द्वारा प्रतिपादित भागवत् धर्म तत्त्वतः भक्ति—मार्ग ही है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर 8वीं शताब्दी तक देश में भक्ति—प्रधान भागवत धर्म का ही बोलबाला रहा। यहां तक कि विदेशी आक्रमणकारियों में भी बहुसंख्यकों को मार्ग की दुन्दुभि बजाई। यद्यपि शंकर भक्ति के विरोधी नहीं थे। किन्तु प्रधानता उन्होंने ज्ञान को ही दी। ज्ञान—मार्ग के साथ—साथ उन्होंने मायावाद और सन्यास को पुनः प्रतिष्ठित किया।

मध्य—युग में तुर्कों के आक्रमणों ने भारतीय मानस को झकझोर दिया। आज इतनी शताब्दियों के बाद यह समझ लेना लगभग असम्भव है कि किन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक शक्तियों ने अथवा कालचक्र की किस गति ने भारतीय आत्मा को वह प्रेरणा और स्फूर्ति दी, जिससे उसके हृदय से भक्ति का वह महासागर उमड़ पड़ा जिसने जीवन में सारे मरुस्थल को अपने अमृत से आप्लावित कर दिया।

जैसा कि पहले कहा गया है कि भक्ति—मार्ग मूलतः जन्म—मरण के बन्धन में छुटकारा दिलाकर परमानन्द में लीन होने का मार्ग है। रामानुज, रामानन्द, कबीर, नानक,

चैतन्य, दादू, रैदास, एकनाथ, रामदास, तुकाराम और तुलसी सभी भक्ति मार्गी सन्त मूलतः मुमुक्षु थे। सबका एक ही उद्देश्य था जीवन और मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाना। किन्तु उनके आन्दोलन का एक व्यापक मानवीय पक्ष भी था। आज की भाषा का प्रयोग करें तो हम उन्हें मानववादी कह सकते हैं। मानववादी दृष्टिकोण का केन्द्र व्यक्ति है। वह व्यक्ति को ही साध्य मानकर चलता है। उसका कल्याण ही परम साध्य है, किन्तु उनका मानववाद ऐहिक नहीं आध्यात्मिक था। उसमें और आज के तथाकथित वैज्ञानिक मानववाद में यही तात्विक अन्तर है।

ज्ञान और कर्म के मार्ग साधारण जन के लिए दुर्गम ही नहीं हैं, बल्कि वे मनुष्यों के बीच एक प्रकार का अधिकारी भेद मानकर चलते हैं। परम-ज्ञान को वही तो प्राप्त कर सकेगा, जिसमें बुद्धि के द्वारा अज्ञान के आवरण को फाड़ डालने की शक्ति होगी। साधारण जन तो इसके योग्य नहीं होता। कर्मकाण्ड या निष्काम कर्म का मार्ग और भी कठिन है। अतः इन मार्गों का प्रतिपादन करने वाले के मन में यह बात छिपी रहती है कि जो लोग ज्ञान और कर्म मार्गों का अनुसरण नहीं कर सकते, वे मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते। मध्यकालीन भक्तों के समक्ष यह समस्या थी कि मोक्ष हर मनुष्य को मिलती है, चाहे वह किसी जाति, धर्म, सम्प्रदाय और लिंग का क्यों न हो। यही नहीं उनका लक्ष्य तो एक ऐसा मार्ग ढूँढ़ निकालना है जिस पर चलकर पतित के पतित, पानी से पापी और मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी मोक्ष का अधिकारी बन सके। यही धारणा वास्तव में मध्यकालीन भक्तों के आध्यात्मिक साम्यवाद का आधार है। इसी ने आध्यात्मिक जगत में मानव के प्रति करुणा की गंगा बहाई, जिसने शुष्क से शुष्क और क्रूर से क्रूर हृदयों को भी सराबोर कर दिया और धर्म और दर्शन की उन चट्टानों को उखाड़ फेंका, जो अकिंचन जन के मार्ग में खड़ी कर दी गई थी। जो उन्हें करुणामय प्रभु के दर्शन से वंचित रखती थीं।

भक्ति-मार्गी सन्तों को यह समझने में कठिनाई नहीं हुई कि पतित और मूर्ख भी इतना तो कर ही सकता है कि वह अपना हृदय खोलकर प्रभु के सम्मुख खड़ा हो जाये, उसके सामने गिड़गिड़ाये और अज्ञान से धूसरित और पाप पक से सना हुआ होने पर भी अपने परमपिता की गोद में जा बैठे। कौन पिता ऐसा होगा जो अपने मूर्ख से मूर्ख और मलिन से मलिन पुत्र को अपनी गोद में न बैठने देगा और फिर क्या परमपिता ऐसा हो सकता है, इसलिए चाहे कोई अजामिल हो, चाहे कोई गणिका, प्रभु की गोद में सबके लिए स्थान है। ज्ञान के वितण्डावाद में खो जाने वाला पण्डित और कर्मकाण्ड की भूल-भुलैयाओं में भटक जाने वाला पुरोहित भले ही प्रभु तक न पहुंच सके, किन्तु गणिका और अजामिल के लिए पतित-पावन की गोद में सदैव ही स्थान खाली रहेगा।

भक्ति-मार्गी सन्तों का मानववाद जब आध्यात्मिक शिखर से उतरकर सामाजिक जीवन की घाटियों व मैदानों में पहुंचा तो उसने क्रान्ति खड़ी कर दी। कबीर और नानक ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच खड़ी धार्मिक कट्टरता की दीवारों पर जबर्दस्त प्रहार किये। वे उन दीवारों को चकनाचूर न कर पाये किन्तु उन्हें हिला अवश्य दिया।

“हिन्दू कहै मोहि राम पियारा, तुरक कहै

रहिमाना।

आपस में दोउ लरि-लरि मूये, मरम न काहु

जाना।।”

कबीर की इस वाणी ने प्रथम बार हिन्दू-मुस्लिम एकता का बिगुल बजाया। नानक ने भी यही किया। इस प्रकार भक्ति-मार्गी सन्तों ने शताब्दियों से चली आई धार्मिक कट्टरता और सामुदायिक कटुता कम करने में और विभिन्न सम्प्रदायों को एक दूसरे के समीप लाने में महान योगदान दिया। इतिहास ने उन्हें हिन्दू-मुस्लिम

एकता का आदि प्रवर्तक कहकर समादृत किया है। यह उनके प्रति सबसे बड़ी श्रद्धांजलि है।

हिन्दू-समाज सहस्राब्दियों से जाति-भेद से पीड़ित चला आ रहा था। वह अस्पृश्यता के कोढ़ से कलंकित था। कितना ही उदार रहा हो, प्राचीन भारतीय दार्शनिकों का दृष्टिकोण, कितना ही प्रचार किया हो उन्होंने ब्रह्माण्ड का विशेषकर जीव जगत की मौलिक एकता का, सामान्य सामाजिक जीवन में ऊँच-नीच, छूत-अछूत का भेद विष की तरह व्याप्त हो चुका था। सन्तों ने जाति-भेद के इस गढ़ पर भी वज्र प्रहार किये। वे इस बात को कैसे स्वीकार कर सकते थे कि जब सब जीव ईश्वर के ही अंश हैं तो सामाजिक स्तर, जन्म के आधार पर कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई छूत कोई अछूत कैसे हो सकता है। अतः उन्होंने-

“हरि को भजै सो हरि का होई।

जाति-पांति पूछै नहीं कोई।।”

का नारा लगाया। इस सम्बन्ध में भी कबीर ने निम्न वचन स्मरणीय है :-

“ऊँचे कुल में जनमिया, करनी ऊँच न होय।

सुवरन कलश सुरा भरा, साधू निन्दै सोय।।”

इस प्रकार इन सन्तों ने जातीय अहंकार का मखौल उड़ाया और भंगी, चमार, धोबी, नाई, कुम्हार हर जाति के लोगों को नई आशा का सन्देश दिया। यह ठीक है कि सामाजिक क्षेत्र में सन्तों के इस आन्दोलन का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु आध्यात्मिक स्तर पर साम्प्रदायिक और जातीय भेद-भाव कुछ कम हुये। उन सन्तों के प्रयत्नों के कारण ही भारतीय समाज में यह परम्परा दृढ़ हुई और आज तक चली आई है कि पहुंचा हुआ सन्त, किसी जाति या सम्प्रदाय का क्यों न हो सभी लोग उसके शिष्य बन जाते हैं और उसका आदर, सम्मान करने लगते हैं। सन्तों ने कम से कम इतना तो कर ही दिया कि

आध्यात्मिक शिखर पर पहुंचे हुये व्यक्ति को समाज, जाति आदि के बन्धनों से मुक्त कर दिया है।

व्यावहारिक स्तर पर सर्वजन सुलभ भक्ति का मार्ग प्रशस्त करके सगुण भक्तों ने जन-कल्याण का श्रेयस्कर कार्य किया। इन्होंने जाति-पांति, धर्म-धर्म, सम्प्रदाय-सम्प्रदाय का पारस्परिक समन्वय स्थापित किया। उन्होंने भक्ति, राजनीति तथा व्यवहार में समन्वय का समावेश करके जन-कल्याण का मन्त्र प्रसारित किया। इस सगुण भक्ति मार्ग ने भटके तथा त्रसित मानव को आशा तथा सुख का सन्देश दिया। इसी के फलस्वरूप समाज में अधर्म, अन्याय तथा अनीति का नाश हो सका। रामराज्य का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा-

“दैहिक-दैविक-भौतिक तापा। राम राज नहीं

काहुहि व्यापा।।

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत

श्रुति नीती।।”

कुछ पाश्चात्य-विद्वानों ने यह भ्रम फैला रखा है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने जीवन से पलायन करने की शिक्षा दी थी और मोक्ष की प्राप्ति के लिए सन्यास को अनिवार्य माना था। आर्यों की आश्रम-व्यवस्था, जिसमें गृहस्थाश्रम को सर्वोपरि माना गया और पुरुषार्थ-चतुष्टय की धारणा, उक्त भ्रम का खण्डन करती है। फिर भी समय-समय पर ऐसे विचारक हुये, जिन्होंने सन्यास को अधिक महत्व दिया। सम्भवतः यह प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म के प्रभाव का परिणाम था। शंकर के दर्शन ने विशेषकर सन्यास को सर्वोत्कृष्ट माना, जगत को माया बतलाया और गृहस्थ जीवन को हेय ठहराया। उन जैसे अद्वैतवादी ने नारी को नरक का द्वार घोषित किया (द्वार कियेकं नरकस्य नारी)। मध्य-युग के भक्ति-मार्गी सन्तों ने इस पलायनवादी प्रवृत्ति का घोर विरोध किया। उन्होंने जीवन को उसके

सर्वांगीण रूप में स्वीकार किया और लौकिक तथा पारलौकिक जीवन के मध्य समन्वय स्थापित किया। उन्होंने इस गहरे मनोवैज्ञानिक तथ्य को समझा कि मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियां तत्त्वतः पापमूलक नहीं हैं। उनका दमन करना न तो सम्भव है और न श्रेयस्कर ही। इसलिए धर्म पर आधारित गृहस्थ जीवन के द्वारा, उनको शान्त करके मोक्ष के मार्ग की ओर बढ़ा जा सकता है। सनतों में स्वयं अनेक गृहस्थ थे और साधारण व्यवसाय के द्वारा अपनी जीविका चलाते थे। उन्होंने नारी को नरक के द्वार के रूप में नहीं बल्कि जीवन-संगिनी के रूप में स्वीकारा और उसे भी मोक्ष की अधिकारिणी माना। इन सन्तों ने जिस प्रकार निम्न जातियों के लोगों के लिए मोक्ष के द्वार खोल दिये, वैसा ही उन्होंने नारी के लिए भी किया। आध्यात्मिक स्तर पर उन्होंने स्त्री और पुरुष का भेद मिटा दिया।

इन भक्ति-मार्गी सन्तों के मानव प्रेम का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वे केवल अपने व्यक्तिगत मोक्ष की साधनाओं में लीन नहीं रहे। उनका करुणामय हृदय यह स्वीकार न कर सका कि उनका स्वयं का उद्धार हो जाय और

शेष जनता भवसागर में पड़ी तड़पती रहे। इसलिए उन्होंने गांव-गांव और द्वार-द्वार घूमकर लोगों को जगाया। उन्हें भक्ति का उपदेश दिया और उनमें एक नई आशा का संचार किया। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इस देश में इन सन्तों से पहले आध्यात्मिक स्तर पर ऐसा मानववादी आन्दोलन कभी नहीं चलाया गया। देश इन सन्तों का सदैव ऋणी रहेगा।

संदर्भ

- हिंदी साहित्य का इतिहास-डॉ. रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 85
- हिंदी साहित्य का वस्तुपरख इतिहास-राम प्रसाद मिश्र, पृ. 96
- भक्त आन्दोलन-डॉ. आर.पी. वर्मा, पृ. 86
- भक्त आन्दोलन का उद्भव और विकास-डॉ. राम सहाय, पृ. 116
- आधुनिक परिपेक्ष्य में भक्त आन्दोलन की प्रासंगिकता-दीनानाथ, पृ. 139